Vol - 07/ July 2016

ISSN 2321 5054

History Times

A Peer Reviewed Research Journal of History & Archaeology

Editors

Prof. Naveen Gideon

Prof. B. K. Shrivastava

Bundelkhand Itihas Parishad Evam Shodh Sansthan, Sagar (M.P.)

डॉ. सीमा पान्डेय
अध्यक्ष - इतिहास विभाग
गुरू घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)

ऋग्वेद के अनुसार (विराट के) तप से ऋत् और सत्य उत्पन्न हुआ। इसी आधार पर दार्शनिक, [illegible] एवं ऐतिहासिक प्रारूप प्रस्तुत कर आदर्श युग की कल्पना की गयी थी जिसमें अपराध नहीं था अतः दण्ड [illegible] आवश्यकता ही नहीं थी। लेकिन जन राज्य शासन सुदृढ़ हो गया, समाज सुव्यवस्थित और सुसंगठित हो गया [illegible] समय प्रजा के संरक्षण के लिए एवं राज्य के विकास के लिए दण्ड अत्यन्त आवश्यक हो गया।

मनु के अनुसार दण्ड की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई पर उसे उन्होंने धर्म का रूप दिया। प्राणियों की रक्षा के [illegible] सभी जीवों के रक्षक ब्रह्मतेजोमय दण्ड को ईश्वर ने पहले अपने धर्मपुत्र के रूप में पैदा किया था।[1] इस प्रकार [illegible] एक प्रकार का ब्रह्मतेज था, वह सभी प्राणियों की रक्षा करता था। गौतम ने दण्ड की उत्पत्ति 'दम्' धातु से बतलाई थी[2], जो मनुष्यों को पाप करने से रोकती थी। ब्राह्मण काल तक ऋत्, धर्म में परिवर्तित हुआ और पाप अपराध [illegible] हो गया। समाज की शक्तियाँ इस रूप में विकसित हो रही थीं कि उन्हें नियंत्रित करने के लिए शक्ति की [illegible] थी। इस समय शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम 'दण्ड शब्द का प्रयोग 'शक्ति' के अर्थ में हुआ। इस समय प्रयुक्त [illegible] शब्द तीन समस्याओं पर रोशनी डालता है - 1. अपराध को रोकने के लिए दण्ड की उत्पत्ति, 2. धर्म की रक्षा [illegible] लिए दैवस्वरूप दण्ड और धर्म शक्ति के क्रियान्वयन में सर्वोच्च शक्ति जो राजा के साथ थी, का संबंध। 3. वैदिक [illegible] काल से ही अपराधों की गणना और निन्दा की गई थी और इन अपराधों को करने से जो पाप होता था उसके निराकरण के लिए प्रायश्चितों, हवनों और व्रतों का विधान किया गया था। राजधर्म और तद्गंभूत दण्ड व्यवस्था का विकास सूत्रकाल से ही शुरू हो गया था। इस समय अपराधों के वर्गीकरण और उनके दण्ड की व्यवस्था अलग-अलग की गई। आपस्तंब धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र इत्यादि में 'राजधर्म प्रकरण' हुआ करता था। राजा समस्त प्रशासनिक व्यवस्था का प्रधान होता था और दण्ड व्यवस्था भी इसमें निहित थी अतः दण्ड विधान राजा में ही अन्तर्हित था। सूत्र और स्मृतिकाल के आने तक अपराध बढ़ गए और उनके दण्ड का विधान भी केवल प्रायश्चित के रूप में ना होकर शारीरिक और आर्थिक होने लगा।

जॉन स्पेलमेन के शब्दों में "दण्ड नीति की मान्यता प्राचीन भारत द्वारा उत्पन्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारों में से एक थी।[3] स्पेलमेन के अनुसार दण्ड का अर्थ समझने के लिए मानव प्रकृति से संबंधित भारतीय विचारों को समझना आवश्यक है। राज्य के पूर्व मानव समाज की शक्तियाँ जिस रूप में विकसित हो रही थीं उनको व्यवस्थित और नियंत्रित करने के लिए शक्ति आवश्यक थी। शतपथ ब्राह्मण में दण्ड शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम शक्ति के अर्थ में किया गया है। वस्तुतः राज्य स्थापना के बाद उसके संचालन के लिए शक्ति की आवश्यकता महसूस की गयी। समाज का संरक्षण बाह्य आक्रमणों और दुष्ट पुरूषों से करने के लिए और राजा की सहायता के लिए दण्ड की सृष्टि

ISSN 2321 5054

की गयी और ग्रंथों में यह स्पष्ट किया गया कि इस दंड की सृष्टि परमात्मा ने की है और राजा दण्ड की सहायता से संसार को योग्य मार्ग पर बनाए रखता है। यदि दण्ड न हो तो संसार में कोई भी अपने धर्म पर स्थिर नहीं रहेगा और सारा समाज नष्ट हो जायेगा।[5]

महाभारत के अनुसार, ''सारा जगत दण्ड से विवश होकर ही रास्ते पर रहता, क्योंकि स्वभावतः सर्वथा शुद्ध मनुष्य मिलना कठिन है। दण्ड से भयभीत मनुष्य ही मर्यादा पालन करता है। महाभारत के अनुसार दण्ड की आवश्यकता संसार को धर्म मय बनाने के लिए हुई है। चारों वर्ण अपने कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन करें इसके लिए भी दंड नीति बनाई गई है। क्योंकि दण्ड के बिना धर्म, सम्मान, कीर्ति इत्यादि कुछ भी नहीं रह सकता है।[6] वेदों में कई स्थानों पर दण्ड शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु उस युग में कभी भी न्यायिक प्रशासन के लिए इसे प्रयुक्त नहीं किया गया। कौटिल्य के अनुसार दण्ड वह साधन था कि जिसके द्वारा आन्वीक्षकी, त्रयी (तीन वेद) एवं वार्ता का स्थायित्व तथा रक्षण होता था। जिसमें दण्ड नियमों की व्याख्या की जाती थी और वही दण्ड नीति होती थी।[7] दण्ड नीति को परिभाषित करते हुए पी.वी. काणे ने लिखा है कि जब प्रजा शासन एवं अपराध दण्ड को विशिष्टता दी गई तो शासन शास्त्र को 'दण्ड नीति' कहा गया।[8] मनुस्मृति के अनुसार दण्ड नीति विधि और न्याय से ऊपर नहीं थी। राजा के समान दण्ड भी विधि से नियंत्रित था। वस्तुतः विधि की सुरक्षा के लिए दण्ड की शक्ति को उसको सहायक बनाया गया था इसमें कहा गया कि दण्ड का उग्रतम रूप भय उत्पन्न करता था लेकिन इसके सही प्रयोग से प्रजा सुखी होती थी।[9]

मनु के पूर्ववर्ती लेखक कौटिल्य ने वाद के विषय में 'धर्मस्थीय' एवं 'कण्टकशोधन' जैसे दो प्रमुख विभाजन बताये हैं' कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' के तृतीय अधिकरण को 'धर्मस्थीय' एवं चतुर्थ अधिकरण को 'कण्टकशोधन' की संज्ञा दी है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय हितों की अवहेलना कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करने वाले को 'कण्टक कहा गया है तथा राजा को बहुत से कण्टकों को दूर करने का निर्देश दिया गया है।[10] इन कण्टकों को शमन करना ही कण्टक शोधन है।

दण्ड का मूल उद्देश्य प्रजा में आतंक फैलाना नहीं था बल्कि पूरे समाज की रक्षा करना था महाभारत मे भी उल्लिखित है कि ''किसी छोटे से अपराध पर प्रजा का अंग-अंग करना, उसे तरह-तरह की यातनाएं देना और उसको देह त्याग के लिये विवश करना या देश निकाला देना कदापि उचित नही है।''[11] दण्ड का आधार शक्ति है। धीरे-धीरे बदलती हुई परिस्थितियों के प्रभाव से विभिन्न कालों में दण्ड के स्वरूप मे भी परिवर्तन आया है। भय पर आधारित रहकर भी दण्ड का लक्ष्य अब केवल दमन नहीं रह गया है बल्कि उसके द्वारा मनुष्य की दुर्बलताओं जैसे ईर्ष्या, महत्वाकांक्षा, लोभ आदि का नियंत्रण भी किया जाने लगा। दण्ड के रूप मे राज्य ने शक्ति का प्रयोग सामाजिक हित में भी किया है। इस शक्ति के द्वारा अपराधी को ना केवल दण्ड दिया जाता था ऐसी परिस्थितियां भी पैदा की जाती थी जिनमें कोई व्यक्ति अपराध ना कर सके। जे.एच. गांगुली महोदय के अनुसार दण्ड और धर्म का समन्वय होने पर ही दण्ड संस्कृति के विकास की संस्था एवं धर्म मानव के अंतिम लक्ष्य का प्रतिपादक बनता था।[12]

मूल रूप से दण्ड के तीन उद्देश्य बताए गये थे, पहला मानव की सहज प्रवृत्ति प्रतिशोध की मानव को नियंत्रित करना और उस भावना को संतुष्टि प्रदान करना।[13] द्वितीय उद्देश्य, भविष्य में अपराधों को रोकना था लोगों की यह विचारधारा थी कि दण्ड के भय से या दण्डित व्यक्ति की तकलीफ को देखकर लोग अपराध नहीं करेंगे और धर्म का अनुसरण करेंगे।[14] दण्ड का तीसरा उद्देश्य आत्मशुद्धि था। भारतीय ऋषि, मुनियों और विद्वानों ने मोक्ष की जो कल्पना की थी उसके लिए आत्मा का शुद्ध होना जरूरी था। इस विचारधारा के अनुसार दण्ड भी प्रायश्चित के

ISSN 2321 5054

समान पाप को नष्ट करने वाला होता था।[15] इस प्रकार दण्ड के पीछे जो उद्देश्य थे उसमें समाज कल्याण का भाव निहित था। यहाँ उल्लेखनीय है कि दण्ड उचित रूप से दिया जाना ही अभीष्ट था। उचित दण्ड ही समाज व देश का कल्याण कर सकता था। मनु ने बहुत ही अच्छे शब्दों में कहा था कि दण्ड का प्रयोग शल्य चिकित्सा के समान था जो रोग की समाप्ति करता था रोगी की नहीं।[16] कौटिल्य ने प्रजा सुख को ही सर्वोच्च स्थान दिया था।

प्राचीन भारत में लोगों को उनके अपराधों के अनुसार ही दण्ड देने की व्यवस्था की गई थी। इसमें शारीरिक दण्ड, आर्थिक दण्ड, बंधन में डालना (कारावास) मृत्युदण्ड एवं अन्य दण्ड शामिल थे। बृहस्पति ने शरीर के चौदह अंग गिनाए हैं जिन पर दण्ड दिया जा सकता था। ये हैं - दोनों हाथ, दोनों पांव, पुरूष का लिंग, आंख, जीभ, दोनों कान, नाक, गर्दन, आधे पांव, अंगूठा, अंगुलियों, सिर, होंठ, कूल्हे आदि इन स्थानों पर अपराधी को कष्ट देने के लिए अनेक तरीकों को वर्णित किया गया है। कौटिल्य ने अपराधी को दारूण दुःख देने के लिए विभिन्न तरीकों का वर्णन किया है। शारीरिक दण्ड देते समय असमर्थ एवं वृद्ध लोगों को कुछ छूट या रियायतें दी जाती थीं। जिन्हें विमुक्तियाँ कहा जाता था। कौटिल्य का कहना है कि छोटे अपराधी, बालक, बूढ़ा, बीमार, पागल, भूखा, प्यासा, थका, अति भोजन किए, अजीर्ण, रोगी, निर्बल आदि व्यक्तियों को दंड स्वरूप कोड़े ना मारे जाएं। इसी प्रकार गर्भवती और एक महीने से कम प्रसूता स्त्री को दंड नहीं दिया जाता था।

कौटिल्य ने अनेक दण्ड जो पुरूष अपराधियों के लिए निर्धारित किए थे उनमें से आधे या पूरे दण्ड स्त्रियों के लिए माफ थे। यह भी कहा गया कि यदि दण्ड के रूप में किसी से कठोर परिश्रम कराया जाय तो उसे एक-एक दिन के अंतर पर किया जाए।[17] अर्थदण्ड को महाभारत आदि ग्रंथो में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि दण्ड के रूप में प्राप्त धन का उद्देश्य राज कोष की वृद्धि कदापि नहीं है। जुर्माने या अर्थ दंड में प्राप्त राशि का एक अंश पीड़ित व्यक्ति को दिया जाता था। बड़े पापियों से दण्ड स्वरूप प्राप्त धन को राजा ग्रहण नहीं करता था वह उसे देवताओं या ब्राह्मणों की सेवा में अर्पित कर देता था। छोटे अपराधों के लिए अर्थ दंड ही पर्याप्त था। जो गरीब धन न दे सके उससे बदले में काम कराया जाता था। बन्धन या कारावास की आवश्यकता बड़े अपराधों में समझी जाती थी ताकि सामाजिक हानि को रोकने के लिए व्यक्ति समाज से दूर रहे और स्वयं को सुधार सके। यदि अपराधी भयानक है और उसमें से सुधार की संभावना कम दिखाई देती थी तो उसे आजीवन कारावास दिया जा सकता था। जॉन स्पेलमैन के अनुसार कारावास, कम से कम मौर्यकाल, से निष्चय ही भारतीय दण्ड की एक विषेशता रही है।[18]

मृत्युदण्ड एक अंतिम और कठोर प्रकार का दंड था। इस दण्ड का प्रयोग राजा द्वारा केवल मजबूरी के समय ही करने की बात कही गई थी। इसके अलावा अन्य प्रकार के दण्डों की भी व्यवस्था की गई थी जिनमें कुछ इस प्रकार हैं - शंख मुण्डिका-सिर की चमड़ी छील कर शंख के समान बना देना, राहु मुख-कानों तक मुंह को फाड़ देना, ज्योतिर्मलिका-शरीर में कपड़ा लपेट कर, उसे तेल में भिगोकर आग लगा देना इत्यादि। वस्तुतः ये सारे दण्ड अपराधों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दिए जाते थे ताकि समाज, राज्य और धर्म की रक्षा की जा सके। मनुष्य को शुद्ध बनाने के लिए स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य, पुर्नजन्म, कर्मफल आदि की कल्पनाएं की गई।[19] प्राचीन भारत में दण्ड और प्रायश्चित, में वैकल्पिकता थी। दण्ड राजाधीन होता था और प्रायश्चित स्व के अधीन। इस तरह प्रायश्चित द्वारा आत्मशुद्धि होती थी। स्मृतियों में कहा गया था कि महापातकी को इस संसार में पुनः-पुनः दुःख से घिरकर विभिन्न योनियों में जन्म लेना पड़ता था।[20] अतः आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित करना चाहिए। आपस्तंब ने आठ प्रकार के महापाप माने थे।[21]

इस प्रकार प्राचीन काल में दण्ड व्यवस्था राजधर्म का अंग था। उन दिनों दंड की सारी व्यवस्था पुरोहितों और ब्राम्हणों के हाथ में थी। वे ही धर्म के नियामक और प्रतिष्ठापक थे। राजा उनका अनुयायी होता था, और धर्म के अनुसार पुरोहित और ब्राम्हण जो व्यवस्था देते थे राजा उसे स्वीकार करता था। धर्म और अधर्म का निर्णय धर्मशास्त्र के वचन पर आधारित था - धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्।[22] राजा, न्यायाधीश, वादी, प्रतिवादी, साक्षी सभी के सभी पाप से बहुत डरते थे। लोग दण्ड के भय से सत्य से विचलित नहीं होते थे। यही कारण था कि उन दिनों लोगों को निष्पक्ष और निष्कलंक न्याय प्राप्त होता था।

संदर्भ

1. मनुस्मृति - 7114 (सं. रामेश्वर भट्ट) चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1987।
2. गौतम धर्म सूत्र, (मिताक्षरा सहित) 2/2/28 (सं. डा. उमेश चंद पांडेय) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1966।
3. शतपथ ब्राम्हण (5/4/417) में राजा को अदण्डय कहा गया और उसे "दण्ड वध" का अधिकार मिला। पारस्कर गृह्यसूत्र में "राजा प्रेशितों दण्ड" : का प्रयोग हुआ है - पारस्कर गृहसूत्र 3/15., चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी. 1964।
4. स्पेलमेन जॉन - पॉलिटिकल थ्योरी आफ ऐशिऐंट इंडिया, ऑक्सफोर्ड, 1964, पृ. 107।
5. मित्तल, डॉ. सुरेन्द्रनाथ - समाज और राज्य - भारतीय विचार, पृ. 25।
6. महाभारत, शांतिपर्व 15, 34, पृ. 4456, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1999।
7. आन्वीक्षिकी त्रयीवार्ता नां योगक्षेम साधना दण्डः। तस्य नीतिर्दण्ड नीतिः। अलब्धतामार्या ..... प्रतिपादिनी च सं. गौरेला वाचस्पति कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 1/4/4-6 चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1984।
8. काणे, पी.वी.,- धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ. 582 प्रकाशन उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ, 1965।
9. मनु. 7/25 चाणक्य प्रणीत सूत्र 76-86 (सं, रामेश्वर भट्ठ) चौखम्बा संस्कृत, प्रतिष्ठान, दिल्ली 1987।
10. सिंह, डॉ. श्याम नारायण - प्राचीन भारत में व्यवहार विधि, स्वाति पब्लिकेशन दिल्ली, 2005, पृ. 140।
11. महाभारत - शांतिपर्व, 122, 40-41, पृ. 4738, गीता प्रेस गोरखपुर, 1999।
12. गांगुली, जे.एच. - फिलासफी ऑफ धर्मा I. H.O., Vol. II, पृ. 15।
13. प्राणिमुद्यन्य दंड ना पाणिच्छेदनमर्हति। पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदन मर्हति।। (मनु, उपरोक्त 8/280, 8/125)
14. मनु, उपरोक्त, 7/15।
15. मनु, वही, 8/318।
16. वही, 8/12।
17. (सं. गौरेला वाचस्पति) कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 1984, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी ऑक्सफोर्ड, 1964, पृ. 461।
18. जॉन, डब्ल्यू. स्पेलमैन; पॉलिटिकल थ्योरी आफ एंशिऐट इंडिया ऑक्सफोर्ड, पृ. 119।
19. शर्मा हरिशचंद्र, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, कॉलेज बुक डिपो, दिल्ली, 1998।
20. पाण्डेय, डॉ. उमेशचन्द्र (हिन्दी व्याख्याकार) - याज्ञवल्क्य स्मृति 3/206 (विज्ञानेश्वर प्रणीत मिताक्षरा) सं. शास्त्री एम.जी. चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983।
21. सं. शास्त्री एम.जी. आपस्तंब, धर्म सूत्र - 1/7/8, 21, भंडारकर ओरिएंटल इंस्ट्यूट, पूना, 1932।
22. गौतम, धर्मसूत्र - 2/3/4 (श्री हरिदत्त कृत मिताक्षरा वृत्ति सहित) पांडेय डॉ. उमेशचंद्र (हिन्दी व्याख्याकार) - गौतम धर्मसूत्र-2/3/4 (श्री हरिदत्त कृत मिताक्षरा वृत्ति सहित) चौखंबा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1966।